चिल्ड्रन प्रेस सर्विस
बुलेटिन

वर्ष - २ | अंक - ३ | पृष्ठ संख्या - १२ | प्रकाशनार्थ नई दिल्ली, मार्च-अप्रैल २००७

प्रधान संपादक
हसरत अर्जुमन्द

संपादक
आशेन्द्र सिंह

सलाहकार मंडल
के. कन्नन
गजेन्द्र नौटियाल
उमेश कुमार
बिभास
शैलेष

संपर्क पता
चिल्ड्रन प्रेस सर्विस बुलेटिन
c/o ग्रासरूट्स मीडिया इनीशियेटिव
प्रथम तल, रेल आरक्षण बिल्डिंग
५० ए, स्ट्रीट १७, ज़ाकिर नगर, ओखला
नई दिल्ली - ११० ०२५
दूरभाषः ०११-२६९८३४४९, २६९३५४५२,
०९८६८४६६४०१, ०९९९०४२८९८
ई-मेलः grassrootsmediainitiative@gmail.com

ए.पी. ग्राफ़िक्स, टी-१९ ओखला फ़ेस-२
नई दिल्ली - ११० ०२० द्वारा मुद्रित

सीमित वितरण हेतु ::: मुद्रित प्रतियां-१०००

मुमकिन है...

सूचना क्रान्ति के क्षेत्र में आए परिवर्तन ने हाथ से लिखने की आदत को कमज़ोर बनाया है। लेकिन मुद्रित शब्द की सत्ता आज भी बरक़रार है। अपनी भावनाओं, विचारों और संवेदनाओं को हम आज भी लिपिबद्ध करना चाहते हैं।

'चिल्ड्रन प्रेस सर्विस' के इस बुलेटिन में भी बच्चों ने अलग-अल विषयों पर अपने विचार और भावनाएं रखकर हम सबको संवेदनशील बनाने की कोशिश की है।

'चिल्ड्रन प्रेस सर्विस' की मंशाओं को समझते हुए उसकी पहुंच व्यापक बनाने के उद्देश्य से हमारे कुछ शुभचिंतकों ने बुलेटिन को हिन्दी और अंग्रेज़ी भाषाओं में फोटो व चित्रों सहित वेबसाइट पर भी शुरु करने का सुझाव दिया है। इस सुझाव पर हमने अमल शुरु कर दिया है।

बात चिट्ठी लिखने की हो अथवा लोगों के परम्परागत व्यवसाय के लुप्त होने की, देश में जाति व सम्प्रदाय आधारित भेदभाव आज भी विकास की सबसे बड़ी बाधा है।

बच्चों का कोमल मन परिवारिक विघटन के प्रति चिन्तित है। मुद्दों पर यदि बाल मन चिन्तनशील है तो ये मुद्दे हमारे लिए भी गहन चिंता का विषय हैं। मगर यह चिंता केवल चिंता न रहकर चिंतन बने और एक समाधान का रूप ले। समाधान - यानी एक समान्तर व स्वस्थ समाज की स्थापना। यह मुमकिन है हमारे और आपके सहयोग से।

❑ *संपादक*

Plan
Be a part of it

ख़त्म होता ग्वारिया जाति का मोबाइल बाज़ार

❑ *हरिराम मेघवाल*

'ऐ बाई, ऐ लेस्यो के चूड़ि मड़िये' ..... यह आवाज़ पांच वर्ष पहले तक राजस्थान के लगभग हर गांव में सुनाई पड़ती थी। धीरे-धीरे ये आवाज़ें लुप्त होती जा रही हैं। राजस्थान में ग्वारिया जाति के महिला पुरूषों का मुख्य व्यवसाय सिर पर गठरी रख कर चूंड़ी सहित स्त्री श्रृंगार का अन्य सामान बेचना है। ये लोग गांव-गांव जाकर सामान बेचते हैं। इन्हें स्थानीय बोली में गणिहारी कहा जाता है। इनकी अपनी कोई स्थाई दुकान नहीं होती बल्कि ये लोग सिर पर गठरी उठाकर गांव-गांव घूमते हैं। फलस्वरूप उस गठरी को मोबाइल बाज़ार की संज्ञा दी जाने लगी है। राजस्थान के अधिकांश ज़िलों में इस जाति के लोग बसते हैं। हर गांव में इनके दो-चार घर मिल ही जाते हैं। यह बात अलग है कि कुछ परिवार अब अपने परम्परागत व्यवसाय को छोड़ते जा रहे हैं। कुछ परिवार हैं जो आज भी अपना जीवनयापन अपने पुश्तैनी धंधे से ही कर रहे हैं। फलस्वरूप इनकी आर्थिक स्थिति ठीक नहीं रहती। राजस्थान के दूरवर्ती गांव भी धीरे-धीरे शहर-क़स्बों से जुड़ते जा रहे हैं और लोगों की पहुंच मुख्य बाज़ार तक आसानी से हो रही है। फलस्वरूप ग्वारिया जाति के मोबाइल बाज़ार का अस्तित्व ख़तरे में पड़ता जा रहा है।

२० वर्षीय मोहन राम ३ बच्चों का पिता है और अपना पुश्तैनी धंधा कर परिवार का पालन-पोषण कर रहा है। वह समीपवर्ती शहर और क़स्बों से सामान लाता है। उस सामान को आसपास के गांवो में बेचता है। सामान के बदले रुपयों के अतिरिक्त अनाज, मिर्च, मसाले, पशुओं का चारा, आदि भी ले लेता है। उसके समुदाय के पुरुष चक्की के पाट तेज़ करने का काम भी करते हैं।

इस समुदाय के लोगों की रुचि अब इस व्यवसाय के प्रति कम होती जा रही है। इसके पीछे कई मुख्य कारण हैं। एक तो उन्हें अब लाभ कम होने लगा है। गांव वाले इनसे सामान भी कम ख़रीदते है। साथ ही राजस्थान में आए साल पड़ने वाले अकाल ने पलापन को भी बढ़ावा दिया है जिसकी चपेट में ग्वारिरया जाति के लोग भी आये हैं।

शिक्षा, स्वास्थ्य जैसी बुनियादी सुविधाओं से ये लोग आज भी महरूम हैं। इनमें आपसी संगठन की भी कमी है। सरकार द्वारा इन्हें कोई सहायता मुहैया नहीं कराई जा रही जिससे ये लोग अपने पुश्तैनी कारोबार को ज़िन्दा रख सकें।

● **चिप्रेस**

नोटः इस सामग्री का उपयोग होने पर प्रकाशित कतरन कृपया अवश्य भेजें । फोटो के लिए कृपया ई-मेल पर संपर्क करें ।

* *हरिराम मेघवाल* राजस्थान के चुरू ज़िले के करणसर गांव के रहने वाले हैं।

परीक्षा रूपी भूत का भय

❑ *पिंकी*

साल भर कड़ी मेहनत के साथ पढ़ाई करने के बावजूद भी जैसे ही परीक्षाएं नज़दीक आती हैं हमारा आत्मविश्वास डगमगाने लगता है। परीक्षाओं के दिनों में हम में से कई साथी इतने डर जाते हैं कि उन्हें न तो सही नींद आती है और ना ही अच्छी तरह भूख लगती है। फलस्वरूप कई लोगों की तो तबीयत ख़राब हो जाती है। कुछ साथी परीक्षा के भय से इतने भयभीत रहते हैं कि उन्होंने साल भर जो पढ़ा है उसे भी भूल जाते हैं।

परीक्षा से इतना डर क्यों लगता है, इस विषय को लेकर मैंने कई स्कूली छात्र-छात्राओं से बात की। सबके जवाब और तर्क अलग-अलग थे; लेकिन निष्कर्ष में परीक्षा सभी के लिए एक भूत के भय की तरह थी। अधिकांश विद्यार्थियों ने गणित और अंग्रेज़ी विषयों को कठिन और डरावना बताया जबकि बदरपुर व संगम विहार के कुछ छात्रों ने विज्ञान व इतिहास जैसे विषयों में कठिनाई का उल्लेख भी किया। परीक्षा सम्पन्न होने के बाद से परिणाम घोषित होने तक का समय भी बड़ा उलझन भरा रहता है। इस बीच छुट्टियों का मज़ा भी किरकिरा हो जाता है। ख़ासकर वह दिन बहुत ज़्यादा डरावना होता है जिस दिन परिणाम-पत्र लेने कि लिए अभिभावकों के साथ स्कूल जाना होता है।

१०वीं कक्षा के एक छात्र से जब इस विषय में बात की गई तो उसका कहना था कि अन्य कक्षाओं की परीक्षा में इतना इतना डर नहीं लगता जितना कि बोर्ड परीक्षा में। हाई स्कूल परीक्षा में सेंटर किसी दूसरे विद्यालय में रहता है तथा परीक्षा हॉल में ड्यूटी भी अन्य व अनजाने शिक्षकों की रहती है। इस बारे में जब कुछ शिक्षकों से बात की तो उनका कहना था कि यदि विद्यार्थी समय का प्रबन्धन अपनी सुविधा के अनुसार कर प्रत्येक विषय को समान समय दे तो उसका परीक्षा परिणाम निश्चित ही अच्छा होगा। इसके अतिरिक्त परीक्षा के भय से बचने के लिए जो सबसे बड़ी चीज़ है 'वह है आत्मविश्वास'। जब तक छात्र में स्वंय आत्मविश्वास की भावना विकसित नहीं होगी तब तक उसे सफलता नहीं मिल सकती। परीक्षा के भय से बचने के विषय में जब कुछ अभिभागकों से चर्चा की तो उनका कहना था कि वे बच्चों को अच्छी किताबें और ट्यूशन जैसी सुविधाएं उपलब्ध करा सकते हैं लेकिन उन सुविधाओं का उपयोग वे कैसे करते हैं उन्हीं को तय करना है।

● **चिप्रेस**

नोटः इस सामग्री का उपयोग होने पर प्रकाशित कतरन कृपया अवश्य भेजें ।

* *पिंकी* दिल्ली के बदरपुर क्षेत्र की रहने वाली है और कक्षा १२ की छात्रा है।

कौन लिखेगा चिट्ठी?

❑ *अजय कुमार* व *मालती कुमारी*

पिछले लगभग दो दशकों में संचार माध्यमों का विकास बहुत ही तेज़ी के साथ हुआ है। सूचनाएं हों या समाचार, यहाँ तक कि हम आपसी हाल-चाल जानने के लिए भी अब इन्हीं माध्यमों का प्रयोग करते हैं। इसमें जो माध्यम सबसे ज़्यादा प्रचलित हैं उनमें मोबाइल फ़ोन, टेलीफ़ोन और इंटरनेट शामिल हैं। इन सभी माध्यमों ने आज हमारी रोज़मर्रा की ज़िंदगी में अपना अहम स्थान बना लिया है। संचार के ये सभी माध्यम जितने सुविधाजनक हैं उतने ही तीव्रगति वाले भी।

उक्त माध्यमों के प्रयोग ने पत्र लेखन को हाशिये पर ले जाकर खड़ा कर दिया है। एक समय था जब अपनी गली में साइकिल पर सवार डाकिये को देखकर आखों में चमक आ जाती थी, कि शायद हमारे घर भी किसी की चिट्ठी आई होगी। अब न तो डाकिये का इंतज़ार रहता है और न ही चिट्ठी लिखने की बेताबी। यह विचार कई लोगों से बात करने के बाद सामने आये हैं। पत्र लिखने या पत्राचार के प्रति लोगों की रुचि धीरे-धीरे कम होती जा रही है। अब चिट्ठी लिखना सिर्फ़ सरकारी दफ़्तरों का काम माना जाने लगा है।

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार आपके द्वारा लिखे पत्र में जिस भाषा व शब्दों का प्रयोग किया जाता है वह आपके व्यक्तित्व तथा भावनाओं के परिचायक होते हैं। आप पत्रों के माध्यम से अथवा लिखित रूप में प्राप्तकर्ता तक जिस आत्मीयता के साथ अपने विचार प्रेषित करते हैं सामने वाला उन विचारों को उसी रूप में ग्रहण करता है। मोबाइल, फ़ोन, इंटरनेट जैसे साधनों ने लोगों को इस प्रक्रिया से मुक्ति दिला दी है कि वे डाकघर जाएं, वहाँ से लिफ़ाफ़ा या अन्य डाक सामग्री लाएं, तथा फिर उसे बक्से में पोस्ट करने जांए।

उत्तर प्रदेश के महराजगंज ज़िले के अर्न्तगत आने वाले नौतनवा क़स्बे में रहने वाली एक ग्रहणी श्रीमती मीना का कहना है ''पहले हम होली, दीवाली या नए साल पर ग्रीटिंग कार्ड डाक से ही भेजते थे, लेकिन अब मोबाइल से एक एस. एम. एस. कर देते हैं।'' उसमान नगर निवासी सन्जू के अनुसार ''पहले हम चिट्ठी इसलिए लिखते थे कि संचार के अन्य साधनों तक हमारी पहुंच आसान नहीं थी। आज मोबाइल व टेलीफ़ोन जैसी सुविधा लगभग हर व्यक्ति के पास है। इसीलिए मैंने भी चिट्ठी लिखना कम कर दिया है।'' यहीं पर रहने वाले ३१ वर्षीय विक्रम कहते हैं कि अगर तकनीक का विकास हमारी सुविधाओं के लिए हो रहा है तो हमें उस का भरपूर लाभ उठाना चाहिए। परसोहिया व फरेन्दा मोहल्लों में रहने वाले राजेन्द्र और किशन कुमार का कहना है कि लगभग दो साल पहले तक वे एक महीने में ६-७ पत्र लिखते थे, लेकिन अब यह सिलसिला क्रमशः धीमा होता जा रहा है। उसमान नगर के निवासी एक युवा छात्र अमित का कहना है कि यदि चिट्ठी में लिखा गया पता थोड़ा भी ग़लत हो गया तो डाक कहीं से कहीं पहुंचती है। इस लिए आजकल नौकरी सम्बंधी साक्षात्कार की सूचनाएं भी मोबाइल, टेलीफ़ोन अथवा ई-मेल द्वारा आने लगी हैं।

दिन प्रतिदिन चिट्ठी लिखने का प्रचलन कम होता जा रहा है। इसको लेकर डाक विभाग के साथ-साथ सुदूर गावों में बसे लोग भी चिंतित हैं। पत्र लेखन के कम होते प्रचलन का असर डाक विभाग की सेवाओं पर भी पड़ेगा जिससे ख़ास कर वे गांव या गांववासी प्रभावित होंगे जो आधुनिक तकनीक की पहुंच से दूर हैं और सूचनाओं के लिए पत्राचार ही जिनका मुख्य सहारा है।

● **चिप्रेस**

नोटः इस सामग्री का उपयोग होने पर प्रकाशित कतरन कृपया अवश्य भेजें ।

* *अजय कुमार* उत्तर प्रदेश के महराजगंज ज़िले के बिरईपार गांव का निवासी तथा कक्षा १० का छात्र है। *मालती कुमारी* उत्तर प्रदेश के महराजगंज ज़िले के कोटकम्हरिया गांव की निवासी तथा कक्षा ११ की छात्रा है।

बस्तों का बोझ

❑ *आशीष कुमार*

पिछले दिनों राजधानी दिल्ली के संगम विहार क्षेत्र में एक व्यक्ति अपने दो बच्चों को स्कूल छोड़ने कें लिए बाइक पर पीछे बैठाकर ले जा रहा था। अचानक स्पीड ब्रेकर आने पर बाइक चालक ने ब्रैक लगाए और पीछे बैठा १२ वर्षीय बच्चा अपने पीठ पर लदे बस्ते के बोझ को सह न सका और फलस्वरूप वह बाइक से गिर गया। उसके सिर में गम्भीर चोट भी आई।

आज की व्यस्तता भरी ज़िन्दगी में हमें प्रतिदिन कई समस्याओं का सामना करना पड़ता है। बच्चे भी समस्याओं से अछूते नहीं हैं कम उम्र में उन्हें भी कई समस्याओं का सामना करना पड़ता है। दिनों दिन बस्ते का बढ़ता बोझ इन्हीं में से एक समस्या है। बस्ते में किताबों के बढ़ते बोझ से बच्चों का शारीरिक विकास तो बाधित होता ही है साथ ही मानसिक विकास पर प्रतिकूल असर पड़ता है। कुछ छोटे स्कूलों में बच्चों के आवागमन के लिए ऑटोरिक्शा की व्यवस्था होती है, लेकिन बस्ते का बोझ वहां भी उनका पीछा नहीं छोड़ता।

बच्चों के बस्तों में कितनी किताबें होनी चाहिएं, इस मुद्दे को लेकर पिछले कई वर्षों से राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर बहस चल रही है। एक तरफ़ तो अभिभावक इसमें अपना पक्ष रख रहे हैं वहीं दूसरी तरफ़ तथाकथित बड़े स्कूल अधिक किताबों से ही शिक्षा की गुणवत्ता मापते हैं।

अभिभावकों का मोह सरकारी स्कूलों से भंग होता जा रहा है। सरकारी स्कूलों में अध्यापकों का अभाव सामान्य बात हो गई है। वहीं अन्य बुनियादी सुविधाओं का भी अभाव रहता है। ऐसी स्थिति में अभिभावक बच्चों का दाख़िला प्राइवेट स्कूलों में करवाना ज़्यादा उचित मानते हैं। बस्तों के बोझ को लेकर मैंने कुछ अभिभावकों से चर्चा की। एक महिला का कहना था, ''मैं स्वयं चाहती हूं कि मेरा बेटा बस्ते में ज़्यादा बोझ ना ले जाए, लेकिन स्कूल में पिटाई के डर से वह अधिक किताबें ले जाता है।'' वहीं कुछ लोगों का मानना यह भी है कि अगर बच्चे पूरी किताबें नहीं ले जाऐंगे तो उनकी पढ़ाई अच्छी तरह नहीं हो पाएगी।

तर्क चाहे जो हों, लेकिन बस्तों बढ़ता बोझ निंरतर एक समस्या का रूप धारण करता जा रहा है।

● **चिप्रेस**

नोटः इस सामग्री का उपयोग होने पर प्रकाशित कतरन कृपया अवश्य भेजें ।

* *आशीष कुमार* कक्षा १० का छात्र है और दिल्ली के संगम विहार क्षेत्र में रहता है।

मेरा भी तो कुछ हक़ है....

❑ *सुनीता*

दिल्ली के संगम विहार क्षेत्र में रहने वाली यामिनी (परिवर्तित नाम) की उम्र १५ साल है। उसकी दुनिया केवल घर के काम तक ही सीमित है। जबकि उसके दो भाई स्कूल भी जाते हैं। साथ ही खेलने तथा घूमने भी। मैनें जब यामिनी की कहानी उसी की ज़ुबानी जाननी चाही तो उसने बताया, ''मेरे घर की हालत बहुत अच्छी नहीं है। बहुत सारे हक़ तो मुझे ग़रीबी के कारण नहीं मिल पाए जबकि कुछ हक़ों में मेरे माँ-बाप का बरताव मेरे प्रति दोहरा रहा है। वे मेरे भाईयों को स्कूल भेजते हैं, लेकिन मुझे नहीं। मैं खेलने जाना चाहती हूँ पर उनका कहना रहता है कि लड़की हो तो लड़की की तरह रहो। मेरे भाई जब बीमार पड़ते हैं तो डॉक्टर के पास ले जाया जाता है और जब मेरी तबियत ख़राब होती है तो दवाई लाकर दे दी जाती है।''

यामिनी का कहना है, ''घर में सबसे आख़िर में मेरी मां और मैं खाना खाते हैं। अक्सर यह होता है कि दोनों को अचार से रोटी खानी पड़ती है क्योंकि सब्ज़ी ख़त्म हो जाती है। मैं जब भी घर में किसी चीज़ की मांग करती हूँ तो कह दिया जाता है कि दहेज में इकट्ठा सब कुछ दे देंगे। मेरा मन भी करता है स्कूल जाँऊ, मेरी भी सहेलियां हों और उनके साथ मैं पार्क में खेलूं, लेकिन ऐसा हो नहीं पाता।''

अपनी कहानी सुनाते-सुनाते यामिनी लगातार रोती रही और मुझसे बीच-बीच में पूछती रही कि अब आप ही बताइये, ''मेरा भी तो कोई हक़ है ना ....''

संगम विहार में यामिनी ही नहीं बल्कि कई लड़कियां ऐसी हैं जिनके घर की ख़राब आर्थिक स्थिति के कारण उन्हें अपने हक़ नहीं मिल पाते। साथ ही उनके साथ भेद-भाव भी किया जाता है।

● **चिप्रेस**

नोटः इस सामग्री का उपयोग होने पर प्रकाशित कतरन कृपया अवश्य भेजें ।

* *सुनीता* कक्षा ८ की छात्रा है और दिल्ली के संगम विहार में रहती है।

सिनामाघरों का लुप्त होता भविष्य

❑ *तरुन*

सिनेमाघर - नई पीढ़ी के कई लोग तो शायद इस शब्द का अर्थ भी नहीं जानते होंगे। जिस तरह यह शब्द धूमिल होता जा रहा है उसी तरह सिनेमाघरों का भविष्य भी लुप्त होता जा रहा है।

मेरे पड़ोस में रहने वाले एक अंकल (जो अब रिटायर हो चुके हैं) से मैंने पूछा, ''जब आप नौकरी करते थे तो छुट्टी के दिन आपका क्या कार्यक्रम होता था?'' उन्होंने बताया कि महीने के दो रविवार को वे अपने परिवार के साथ सिनेमा हॉल में फ़िल्म देखने जाते थे। तब शहर में गिने-चुने सिनेमा हॉल ही थे। इसलिए कई हफ़्तों पहले से बुकिंग करानी पड़ती थी। कभी-कभी तो ज़्यादा पैसे देकर (ब्लैक में) टिकिट ख़रीदने पड़ते थे। एक और अंकल से बात करने पर उन्होंने बताया कि जब वे पढ़ते थे तो कई बार ऐसा होता था कि हॉस्टल से रात में चोरी से जाते थे और टॉकीज़ यानी सिनेमाघर में फ़िल्म देखकर आते थे। कुछ फ़िल्में तो उन्होंने १०-१४ बार तक देखी हैं और आज भी उन के क़ायल हैं।

सिनेमा घरों का इतिहास काफ़ी पुराना है। जैसे-जैसे फ़िल्मों में तकनीक का प्रयोग बढ़ा सिनेमाघरों का रूप भी बदला। टेलिविज़न के आविष्कार ने सिनेमाघरों के प्रति लोगों की रुचि को आंशिक रूप से प्रभावित किया। इसके बाद जब आम लोगों की पहुंच वी.सी.आर. और वी.सी.पी. तक बढ़ी तो टॉकीज़ों का भविष्य और गर्त में चला गया। लोगों ने घंटों लाइन में खड़े रहकर टिकिट लेने और फिर फ़िल्म देखने के स्थान पर घर में ही पसंदीदा फ़िल्म की वीडियो कैसेट लाकर परिवार के साथ देखने को सुविधाजनक माना। सिनेमाघरों के अस्तित्व पर उस समय सबसे ज़्यादा ख़तरा उमड़ा जबकि केबल टी.वी. ने अपना जाल फैलाया। आज आप केबल टी.वी. के माध्यम से मामूली सा शुल्क देकर एक सैकड़ा से अधिक टी.वी. चैनल देख सकते हैं। इसमें न्यूज़, फ़िल्म तथा अलग-अलग विषयों से संबन्धित चैनल शामिल होते हैं। हाल ही में डिश ऐंटीना का प्रचलन भी जोरों पर बढ़ा है। इसने दूर दराज़ स्थित गावों तक अपने पांव पसार लिए हैं। केबल टी.वी. डिजीटल तकनीक पर आधारित है। अतः इसकी आवाज़ और पिक्चर की गुणवत्ता कहीं बेहतर होती है। इसी प्रकार वीसीआर और वीसीपी की जगह अब वीसीडी प्लेयर ने ले ली है। इसमें लगने वाली सी डी यानी कॉम्पेक्ट डिस्क की गुणवत्ता व तस्वीर तथा आवाज़ वीडियो कैसेट के मुक़ाबले कहीं अधिक बेहतर होती है। ऐसा नहीं है कि तकनीक ने सिनेमाघरों को अपने अनुकूल नहीं बनाया है। सिनेमाघरों की संख्या में कमी ज़रूर आई है, लेकिन आज जो सिनेमाघर अस्तित्व में हैं वे तकनीकी रूप से काफ़ी समृद्ध व गुणवत्ता वाले हैं।

महानगर हों अथवा छोटे शहर मल्टीप्लैक्स धीरे-धीरे हर जगह अपने क़दम फैला रहा है। यह परम्परागत सिनेमाघरों का अति आधुनिक रूप है। यह वातानुकूलित तो होता ही है, साथ ही इसका पर्दा भी बड़ा होता है। आवाज़ व तस्वीरों की क्वालिटी डिजीटल होती है। एक मल्टीप्लैक्स में एक साथ कई फ़िल्मे चल सकती हैं। यहां केबिन सुविधा भी उपलब्ध रहती है। इसके अतिरिक्त स्वल्पाहार भी मिलता है। मल्टीप्लैक्स के टिकिट अवश्य ही मंहगे रहते हैं, लेकिन इनमें मिलने वाली सुविधाओं को मद्देनज़र रखते हुए जिन लोगों का सामर्थ्य है वे ही वहां जाकर फ़िल्म देखना पसंद करते हैं।

अतः भारतीय सिनेमा का इतिहास जितना स्वर्णिम और रोचक है सिनेमाघरों का इतिहास भी उतना ही रोमांचकारी है। हर व्यक्ति के जीवनपक्ष से सिनेमाघर के कुछ न कुछ अनुभव ज़रूर जुड़े हैं। यह बात अलग है कि सिनेमाघर आज अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रहे हैं।

● **चिप्रेस**

नोटः इस सामग्री का उपयोग होने पर प्रकाशित कतरन कृपया अवश्य भेजें ।

* *तरुन* दिल्ली के संगम विहार क्षेत्र में रहने वाला है और कक्षा ६ का छात्र है ।

कहाँ गईं दादी-नानी की कहानियां?

❑ *सुनीता*

एक समय था जब हम लोग गर्मियों की छुट्टियों का इंतज़ार बेसब्री से करते थे। गर्मियों की छुट्टियों में हम में से कोई अपने गांव दादा-दादी के पास जाता था तो कोई अपने ननिहाल। इन छुट्टियों का अपना ही मज़ा होता था। गांव हो या ननिहाल, वहां की अपनी धमाचौकड़ी तो रहती ही थी साथ ही दादा-दादी या नाना-नानी से कहानियां भी सुनने को मिलती थीं। कभी परियों की कहानियां तो कभी चंदा मामा की कहानी। राजा की वीरता और रानी की कहानी। और भी न जाने कितने विषय होते थे जो कहानियां से जुड़े रहते थे।

अब हालात बदल गए हैं। कई स्कूल तो ऐसे हैं जहां बहुत ही कम समय के लिए छुट्टियां होती हैं और जहां होती भी हैं तो हमारे अभिभावक चाहते हैं कि हम उस दौरान कोई कोर्स कर लें। इसके साथ-साथ आधकांश परिवार इन छुट्टियों में गांव जाने से बेहतर किसी पर्यटन स्थल पर जाना मानते हैं। दादी-नानी की कहानियों पर कहीं न कहीं से पारिवारिक विघटन ने भी असर डाला है। इस सबके चलते अब बच्चों की रुचि भी बुजुर्गों से कहानियां सुनने में कम होती जा रही है। बच्चे अब वीडियो गेम, कम्प्यूटर और बाज़ार में उपलब्ध स्टोरीज़ बुक्स में ज़्यादा रुचि लेने लगे हैं। समय के साथ-साथ हर व्यक्ति की व्यस्तताएं भी बढ़ रही हैं। अभिभावकों के पास इतना समय नहीं है कि वे बच्चों को अपनी दिनचर्या में से कुछ वक़्त अलग निकाल कर दें। अतः अभिभावक बच्चों की भौतिक सुविधाओं या कहें कि ज़रूरतो को आसानी से पूरा कर देते हैं।

समय के अनुसार बच्चों की रुचि भी बदल रही है। आज मैं या मेरे अन्य साथी दादी-नानी द्वारा सुनाई जाने वाली कहानियों के प्रति इतने लालयित नहीं रहते जितने कि कॉमिक्स या इंटरनेट अथवा वीडियो गेम के प्रति। हम सभी छोटी उम्र से ही अपने अच्छे भविष्य की तैयारी में जुट जाते हैं। छुट्टियों में हम पेंटिंग या कोई अन्य रचनात्मक कोर्स ज्वाइन कर लेते हैं। दिल्ली व अन्य महानगरों में स्थिति लगभग इसी तरह की है। जबकि छोटे शहरों व क़स्बाई क्षेत्रों में अभी भी गर्मियों में छुट्टियां होती हैं और लोग वहाँ दादी-नानी की कहानियां सुनने अपने गांव या ननिहाल जाते हैं।

● **चिप्रेस**

नोटः इस सामग्री का उपयोग होने पर प्रकाशित कतरन कृपया अवश्य भेजें ।

* *सुनीता* दिल्ली के संगम विहार क्षेत्र की रहने वाली है और कक्षा ८ की छात्रा है।

क्षेत्रीय आस्था का प्रतीक हाथी

❑ *सौरभ कुमार गौड़*

भारतीय हिन्दू समाज में हाथी का विशेष स्थान है। हाथी को गणेश जी का अवतार भी माना जाता है। एक तरफ़ जहां हाथियों की पूजा-अर्चना की जाती है वहीं दूसरी तरफ़ देश के कुछ हिस्सों में इसका प्रयोग बोझा ढ़ोने में भी किया जाता है। स्वभाव से सीधा, लेकिन जल्दी ही विचलित हो जाने वाला हाथी राजा महाराजाओं की शाही सवारी और सर्कस में अपने करतबों के लिए भी प्रसिद्ध है।

उत्तर प्रदेश के महराजगंज ज़िले के लगभग प्रत्येक गांव में हाथी की पूजा-अर्चना विशिष्ट प्रकार से की जाती है। यहां हाथी को गणेश जी का और एक स्थानीय देवी काटेही माई का अवतार मानकर पूजा जाता है। गावों के लगभग प्रत्येक मंदिर में हाथी की मूर्ति स्थापित है। गांव के लोग जब कोई मान-मनौती मानते हैं और वह पूरी हो जाती है तो मंदिर या उसके बाहर मूर्ति की स्थापना करवाते हैं। माँ बनैलिया का मंदिर महराजगंज ज़िले के मंदिरों में से प्रमुख है। यहाँ हाथियों की असंख्य मूर्तियां स्थापित हैं। माँ बनैलिया मन्दिर की शोभायात्रा में हाथियों का प्रयोग ज़्यादा से ज़्यादा किया जाता है। हरदीडाली गाँव में रहने वाली श्रीमती प्रभादेवी एक ग्रहणी हैं। उनके अनुसार, ''हमारे पूर्वज हाथी को पूज्य मानकर उसकी पूजा करते चले आ रहे हैं। उसी परम्परा का निर्वहन हम भी कर रहे हैं।'' क्षेत्र के एक मंदिर के पुजारी राम अचल मिश्रा कहते हैं, ''देश के हर क्षेत्र में किसी न किसी देवी देवता की पूजा विशेष तौर पर होती है। जैसे महाराष्ट्र में गणेश जी की, मथुरा में भगवान कृष्ण की, अयोध्या में भगवान राम की। उसी तरह हमारे क्षेत्र में वर्षा के देवता इंद्र की सवारी हाथी की पूजा होती है।''

महराजगंज ज़िले में जब फ़सल कट कर अनाज घर में आता है तो सबसे पहले हाथी की मूर्ति को चढ़ाया जाता है। कई स्थानों पर हाथी की मूर्ति पीपल के वृक्ष के नीचे रखी जाती है क्योंकि पीपल को देववृक्ष माना जाता है। महराजगंज ज़िले के नौतनवा क़स्बे में रहने वाले तऊलन प्रसाद का कहना है, ''मैं पिछले २० सालों से हाथी की मूर्तियां बना रहा हूँ। पहले मिट्टी की सादा मूर्तियां बनती थीं, आजकल बालू व सीमेंट की रंगीन मूर्तियों की मांग बढ़ गई है।''

हाथी को कई अलग-अलग नामों से पुकारा जाता है। भारतीय धर्म में यह अपना विशिष्ट स्थान रखता है जबकि महराजगंज ज़िले में यह विशेष रूप से पूजनीय है।

● **चिप्रेस**

नोटः इस सामग्री का उपयोग होने पर प्रकाशित कतरन कृपया अवश्य भेजें ।

* *सौरभ* उत्तर प्रदेश के महराजगंज ज़िले के हरदीडाली गाँव का रहने वाला है और कक्षा १२ का छात्र है।

विकास की बाधा - जातीय भेदभाव

❑ *पवन कुमार यादव*

हम २१ वीं सदी में हैं और अपने राष्ट्र को विकसित देशों की श्रेणी में लाने का सपना देख रहें हैं, लेकिन आज भी कई ऐसी बाधाएं जो हमारे समग्र विकास को अधूरा बनाए हैं। हम सामाजिक विकास की बात करें अथवा राष्ट्रीय विकास की इसके लिए कुछ बुनियादी सुविधाओं का होना जरूरी है। शिक्षा भी उन्हीं में से एक है। उत्तर प्रदेश के सीमावर्ती ज़िले महराजगंज में आज भी छुआछूत एक सामाजिक कोढ़ के रूप में विद्यमान है। इसके चलते ग्रामीण क्षेत्रों के विकास सम्बंधी कोई भी निर्णय सर्वसम्मति से नहीं होता। यहाँ आज भी कुछ जातियों का वर्चस्व क़ायम है।

कुछ समय पहले की घटना हैः नौतनवां तहसील के अर्न्तगत आने वाले सुकरौली गाँव में एक व्यक्ति ब्राहम्ण के दरवाज़े पर लगे हैण्डपम्प पर पानी भरने चला गया। इस पर ब्राहम्ण परिवार ने उसकी इतनी पिटाई लगाई कि आख़िर में उसे नौतनवां स्थित सरकारी अस्पताल में भर्ती कराना पड़ा। ज़िले के विकास में साम्प्रदायिक भेदभाव भी एक बड़ी बाधा है। हरदीडाली के ६५ वर्षीय काल्लोल कान्ति विश्वास उर्फ बंगाली बाबू का कहना है कि क्षेत्र में हिन्दू और मुसलमानों के बीच जो भेदभाव है उसके कारण विकास सम्बंधी निर्णय मिलजुल कर नहीं लिए जाते। बंगाली बाबू के अनुसार जातीय व साम्प्रदायिक भेदभाव का मुख्य कारण अशिक्षा है।

यहाँ पर लोगों के शिक्षित करने तथा उनमें वैचारिक समानता लाने के लिए सरकारी व ग़ैर-सरकारी स्तर पर कई प्रयास किए जा रहे हैं। ऐसे ही प्रयासों की श्रंखला में महराजगंज ज़िले के विभिन्न गाँवो में जागरूक किशोर व किशोरियों ने मिलकर बाबू बहिनी मंच का गठन किया है। इस मंच के माध्यम से ये बच्चे स्थानीय संस्था ग्राम नियोजन केन्द्र व बाल अधिकारों के लिए अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर कार्यरत संस्था प्लान इंटरनेशनल के सहयोग से कार्य कर रहे हैं। इस मंच के माध्यम से बच्चे लोगों को शिक्षा के लिए जागरूक तो कर ही रहे हैं साथ ही उन्हें उनके बुनियादी अधिकारों की भी जानकारी दे रहें हैं। इसके लिए समय समय पर शिविरों, नुक्कड़ नाटकों, जागरूकता रैली सहित कई अन्य सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन किया जाता है। इस मंच का प्रयास है कि विकास के लिए सभी लोगों की समान भागीदारी हो और वे अपनी-अपनी भूमिका अदा करें।

● **चिप्रेस**

नोटः इस सामग्री का उपयोग होने पर प्रकाशित कतरन कृपया अवश्य भेजें ।

* *पवन कुमार* उत्तर प्रदेश के महराजगंज ज़िले के सुकरौली गाँव का रहने वाला है और कक्षा १० का छात्र है।

कब ख़त्म होगा जननी मृत्यु का सिलसिला?

❑ *लक्ष्मी पंवार*

पहाड़ी क्षेत्रों में आज भी मे महिला स्वास्थ्य की स्थिति ज्यो की त्यो बनी हुई है। जहां महिलाओं को भगवान का दूसरा रूप दिया जाता था और जगत जननी माता कहा जाता था, वहीं महिलाएं अपने भविष्य के लिए अपनी सीढ़ी तय नहीं कर पा रही हैं। गर्भवती माताओं को प्रसव काल में स्वास्थ्य सुविधायें पूर्ण रूप से नही मिल पा रही हैं। आख़िर क्यों जूझना पड़ता हैं गर्भवती माताओं को? प्रसव काल में माता अपने गोद में बच्चा खिलाने की सोचती हैं तभी उन्हें अपनी जान से हाथ धोना पड़ता है।

गैरसैण क्षेत्र के डुंग्री गॉव की निवासी आशा देवी को पूरे नौ महीने सात दिन हुये थे कि अचानक उसे तेज़ दर्द होने लगा। घर वालों ने आशा को डाक्टर के पास ले जाने को तैयार किया कि आधे रास्ते में ही आशा ने दम तोड़ दिया। इसका प्रमुख कारण था आशा का घर रोड से ४ कि.मी. दूर होना तथा अस्पताल का ४७ कि.मी. दूर होना। यदि आशा के घर तक यातायात के साधनों की उपलब्धता होती तो शायद आशा की जान बच सकती थी। ऐसी घटनाएं पूरे उत्तराखण्ड राज्य व गैरसैण क्षेत्र में दिनों-दिन बढती जा रही हैं। पहाड़ी क्षेत्रों में अधिकतर यातायात की कमी होती है। गांव रोड से अक्सर २०-३० कि.मी. की दूरी पर होते हैं। इन गांवों के मरीज़ जब तक अपने घरों से रोड तक पहुचते हैं तब तक देर हो चुकी होती है। अगर वह स्वास्थ्य सुविधाओं तक पहुंच भी जाता है तो वहां पर उसे पूरे साधन उपलब्ध नहीं हो पाते हैं। गर्भवती महिला अपने गांव में दाइयों की मदद ले भी लेती हैं तो दाइयों को भी पूरा ज्ञान नहीं होता। वो महिलाओं को घायल कर देती हैं। परिवार वालों का विश्वास दाईयों पर ही टिका होता है कि वो जो भी कर रही होंगी बिल्कुल सही होगा। परिवार वालों की जागरूकता उस समझ तक नहीं होती है कि जिस समय महिला गर्भवती होती है उसे किन-किन चीज़ों की ज़रूरत होती है। दूसरी ओर महिला स्वास्थ्यकर्मी समय पर गांवों में जाकर महिलाओं को टीके और खान-पान की पूर्ण जानकारी नहीं देती हैं। अगर महिला अपनी जांच करवाना भी चाहें तो वो घर के कार्यों से ही नहीं निपट पाती हैं। २४ घण्टे के अन्दर उसे १८ घण्टा काम से जूझना पड़ता है।

डा०. मीना रानी का कहना है, ''अधिकतर देखा जाता है कि पिछड़े इलाकों के लोग २०-३० कि.मी. की दूरी पर निवास करते हैं। दूर इलाकों के कारण वे महिला स्वास्थ्य के प्रति बिल्कुल जागरूक नही होते हैं। उन्हें ये पता नहीं होता कि टीका आख़िर है क्या? महिला को प्रसव के दौरान किस प्रकार का पौष्टिक आहार दिया जाना चाहिए यह भी महिला और उसके परिवार को पता नहीं रहता। इसके साथ साथ परिवार की आर्थिक स्थिति भी कमज़ोर होती है जिसके कारण महिला को मृत्यु का शिकार बनना पड़ता है। इसका प्रभाव मां तथा बच्चे दोनों पर पड़ता है। अगर मां बच्चे को जन्म देकर मर जाती है तो बच्चे को मां का पहला दूध प्राप्त नहीं होता और बच्चे का लालन-पालन ठीक तरीक़े से नहीं हो पाता। इसका पूरा प्रभाव परिवार के सदस्यों पर पड़ता है।''

दिनों दिन बढ़ती जा रही इस समस्या का अगर समय पर निराकरण नहीं किया गया तो यह भयंकर रूप भी ले सकती है।

● **चिप्रेस**

नोटः इस सामग्री का उपयोग होने पर प्रकाशित कतरन कृपया अवश्य भेजें।

* *लक्ष्मी पंवार* उत्तराखण्ड के जांकीधार गांव की निवासी है।

एनीमेशन की दुनियां

❑ *चन्दन कुमार*

इन दिनों एनीमेशन तकनीक का जादू छोटे पर्दे से लेकर बड़े पर्दे तक छाया हुआ है। बच्चों के लिए बने कार्टून सीरियल हों या बड़े पर्दे पर दिखाई जाने वाली हॉलीवूड और बॉलीवुड की फ़िल्में, सभी में एनीमेशन तकनीक का प्रयोग बेहतरी के साथ किया जा रहा है।

पिछले दिनों बॉलीवुड की रितिक रोशन अभिनीत फ़िल्म 'क्रिश' व बच्चों के लिए बनी फ़िल्म 'जय हनुमान' ने सफलता के नए आयाम स्थापित किये हैं। भारतीय फ़िल्म उद्योग में गत एक दशक के दौरान एनीमेशन तकनीक का ख़ासा विस्तार हुआ है। मायानगरी मुम्बई से लेकर छोटे शहरों तक में लोगों ने मीडिया लैब की स्थापना कर इस तकनीक को अपनाया है और अपने उद्योग को नए आयाम दिए हैं।

एनीमेशन फ़िल्म प्रक्रिया तीन प्रमुख चरणों से होकर गुज़रती है। प्रथम चरण के तहत प्री-प्रोडक्शन सम्बंधी काम किये जाते हैं। इसमें फ़िल्म की कहानी लेखन, स्क्रिप्ट, साउन्ड रिकॉर्डिंग, स्लागिंग, पोजिंग तथा ले-आउट शामिल होते हैं। दूसरे चरण में पोज़ किए हुए चित्रों के बीच ड्राइंग एनीमेटर बनता है। एक कुशल चित्रकार ही सफल एनीमेटर हो सकता है। यह अपने किरदारों को अच्छा अभिनय करवाते हुए चित्रों को श्रंखलाबद्ध करता है। जब ये चित्र बन जाते हैं तो लाइन टैस्ट करने के बाद एनीमेशन बनकर तैयार होता है।

एनीमेशन की दुनिया में अच्छे कैरियर की सम्भावनाएं भी बराबर बढ़ती जा रही हैं। इसके लिए देश के कई शैक्षणिक संस्थानों में पाठ्यक्रम चलाए जा रहे हैं। एनीमेशन फ़िल्मों में कम्प्यूटर तकनीक के साथ-साथ कुशल चित्रकारों व कल्पनाशील युवाओं की मेहनत व रचनात्मकता शामिल रहती है।

एनीमेशन फ़िल्मो की ख़ासियतों पर अगर नज़र डाली जाए तो इनकी गति तीव्र होती है। साथ ही ये दर्शकों को रोमांचित भी करती हैं। इन फ़िल्मों में चटकीले रंगों का सुंदर संयोजन रहता है। एनीमेशन तकनीक का प्रयोग ज़्यादातर बच्चों के लिए बनने वाली फिल्मों और कार्टून सीरियल में किया जाता है। यह बात अलग है कि हॉलीवुड में इस तकनीक का प्रयोग काफ़ी पहले से हो रहा है। और इस तकनीक से बनी कई फ़िल्मो ने विश्व स्तर पर ख्याति अर्जित की है। इन फ़िल्मों को विश्व की कई भाषाओं में डब भी किया गया है।

● **चिप्रेस**

नोटः इस सामग्री का उपयोग होने पर प्रकाशित कतरन कृपया अवश्य भेजें ।

* *चन्दन कुमार* दिल्ली के संगम विहार क्षेत्र का रहने वाला है और कक्षा १२ का छात्र है।